दशाश्रुतस्कन्धसूत्र

डॉ. अशोक कुमार सिंह

छेदसूत्रों का श्रमणाचार के उत्सर्ग एवं अपवाद नियमों के प्रतिपादन के कारण जैन आगमों में विशेष स्थान है। स्थानकवासी एवं तेरापंथ सम्प्रदायों में ४ छेदसूत्र मान्य हैं– १. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र २. बृहत्कल्पसूत्र ३. व्यवहारसूत्र ४. निशीथ सूत्र। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में महानिशीथ और जीतकल्प को मिलाकर ६ छेदसूत्र स्वीकार किए गए हैं। दशाश्रुतस्कन्ध का दूसरा नाम आचारदशा भी है। इसमें मुख्यतः श्रमणों एवं गौणतः श्रमणोपासकों के आचारसंबंधी विधान हैं। २० असमाधि स्थान, २१ शबल दोष, ३३ आशातनाएँ, आचार्य की आठ सम्पदाएँ, चित्त समाधि के १० बोल, श्रावक की ११ प्रतिमाएँ, भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ, ३० महामोहनीय कर्मबन्ध के कारणों की इसमें चर्चा है। डॉ. अशोक कुमार सिंह के इस आलेख में दशाश्रुतस्कन्ध पर उपयोगी सामग्री उपलब्ध है।

–सम्पादक

जैन परम्परा (श्वेताम्बर जैनों के विभिन्न सम्प्रदाय) में छेदसूत्रों की संख्या के विषय में मतभेद है। छः छेदसूत्र ग्रन्थों में से महानिशीथ और जीतकल्प इन दोनों को स्थानकवासी और तेरापन्थी नहीं मानते, वे केवल चार को स्वीकार करते हैं। श्वेताम्बर मूर्तिपूजक सम्प्रदाय छः छेदसूत्रों को मानता है।

छेद संज्ञा कब से प्रचलित हुई और छेद में प्रारम्भ में कौन–कौन से आगम ग्रन्थ सम्मिलित थे, यह भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। परन्तु अभी तक जो साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध हुए हैं उनके अनुसार आवश्यकनिर्युक्ति में सर्वप्रथम छेदसूत्र का वर्ग पृथक् हो गया था।

छेद शब्द की व्युत्पत्ति

'छेद' शब्द छिद् (काटने या भेदने अर्थ में) धातु से भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है। छेद का शाब्दिक अर्थ होता है[1]—काटना, गिराना, तोड़ डालना, खण्ड–खण्ड करना, निराकरण करना, हटाना, छिन्न–भिन्न करना, साफ करना, नाश, विराम, अवसान, समाप्ति, लोप होना, टुकड़ा, ग्रास, कटौती, खण्ड अनुभाग आदि।

जैन परम्परा में छेद शब्द सामान्यतः जैन आचार्यों द्वारा प्रायश्चित्त के एक भेद के रूप में ही ग्रहण किया गया है। **आचार्य कुन्दकुन्द**[2] ने छेद का अभिप्राय स्पष्ट करते हुए कहा है— ''सोना, बैठना, चलना आदि क्रियाओं में जो सदा साधु की प्रयत्न के बिना प्रवृत्ति होती है— उन्हें असावधानी से सम्पन्नं किया जाता है— वह प्रवृत्ति हिंसा रूप मानी गई है। शुद्धोपयोग रूप मुनिधर्म के छेद (विनाश) का कारण होने से उसे छेद(अशुद्ध उपयोग रूप) कहा गया है।'' पूज्यपाद ने **'सर्वार्थसिद्धि'**[3] में इसे परिभाषित करते हुए कहा है— ''कान, नाक आदि शरीर के अवयवों के काटने का नाम छेद है। यह

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अहिंसाणुव्रत के पांच अतिचारों के अन्तर्गत है। दिन, पक्ष अथवा मास आदि के विभाग से अपराधी साधु के दीक्षाकाल को कम करना छेद कहा जाता है। यह नौ प्रकार के प्रायश्चित्तों में से एक है।'' **'तत्त्वार्थभाष्य सिद्धसेनवृत्ति'**[4] में छेद का अर्थ अपवर्तन और अपहार बताया गया है। छेद, महाव्रत आरोपण के दिन से लेकर दीक्षा पर्याय का किया जाता है। जिस साधु के महाव्रत को स्वीकार किये दस वर्ष हुए हैं उसके अपराध के अनुसार कदाचित् पाँच दिन का और कदाचित् दस दिन का, इस प्रकार छः मास प्रमाण तक दीक्षापर्याय का छेद किया जा सकता है। इस प्रकार छेद से दीक्षा का काल उतना कम हो जाता है।

छेद सूत्र की उत्तमता

छेदसूत्रों को उत्तमश्रुत माना गया है। निशीथभाष्य[5] में भी इसकी उत्तमता का उल्लेख हैं। चूर्णिकार जिनदास महत्तर[6] यह प्रश्न उपस्थित करते हैं कि छेदसूत्र उत्तम क्यों है? पुनः स्वयं उसका समाधान प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि छेदसूत्र में प्रायश्चित्त विधि का निरूपण है, उससे चारित्र की विशुद्धि होती है, एतदर्थ यह श्रुत उत्तम माना गया है।

छेदसूत्र नामकरण

दशाश्रुतस्कन्ध आदि आगम ग्रंथों की छेदसूत्र संज्ञा प्रदान किये जाने के आधार के विषय में भी जैन विद्वानों ने विचार किया है।[7] शुब्रिंग के अनुसार छेदसूत्र और मूलसूत्र जैन परम्परा में विद्यमान दो प्रायश्चित्तों–छेद और मूल से लिये गये हैं। प्रो. एच. आर. कापडिया[8] के अनुसार छेद का अर्थ छेदन है और छेदसूत्र का अभिप्राय उस शास्त्र से लिया जा सकता है जिसमें उन नियमों का निरूपण है जो श्रमणों द्वारा नियमों का अतिक्रमण करने पर उनकी वरिष्ठता (दीक्षापर्याय) का छेदन करते हैं।

कापड़िया के मत में इस विषय में दूसरा और अधिक तर्कसंगत आधार पंचकल्पभाष्य[9] की इस गाथा के आलोक में प्रस्तुत किया जा सकता है– परिणाम अपरिणामा अइपरिणामा य तिविहा पुरिसा तु। णातूणं छेदसुत्तं परिणामणे होंति दायव्वं।। इस गाथा से यह निष्कर्ष निकलता है कि शास्त्रों का वह समूह जिसकी शिक्षा केवल परिणत (ग्रहण सामर्थ्य वाले) शिष्यों को ही दी जा सकती है, अपरिणत और अतिपरिणत को नहीं वह छेदसूत्र कहा जाता है।

छेदसूत्रों के नामकरण के संबंध में आचार्य देवेन्द्रमुनि[10] ने भी तर्क प्रस्तुत किये हैं। उन्होंने पहले प्रश्न किया कि अमुक आगमों को छेदसूत्र, यह अभिधा क्यों दी गयी? पुनः उत्तर देते हुए कहा कि इस प्रश्न का उत्तर प्राचीन ग्रंथों में सीधा और स्पष्ट प्राप्त नहीं है। हाँ यह स्पष्ट है कि जिन सूत्रों को

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

'छेदसूत्र' कहा गया है वे प्रायश्चित्त सूत्र हैं। आचार्य देवेन्द्रमुनि का अभिमत है कि श्रमणों के पाँच चारित्रों— १. सामायिक, २. छेदोपस्थापनीय ३. परिहारविशुद्धि ४. सूक्ष्मसम्पराय और ५. यथाख्यात में से अन्तिम तीन चारित्र वर्तमान में विच्छिन्न हो गये हैं। सामायिक चारित्र स्वल्पकालीन होता है, छेदोपस्थापनीय चारित्र ही जीवनपर्यन्त रहता है। प्रायश्चित्त का संबधं भी इसी चारित्र से है। संभवत: इसी चारित्र को लक्ष्य में रखकर प्रायश्चित्त सूत्रों को छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

आचार्य ने दूसरी संभावना प्रस्तुत करते हुए कहा कि आवश्यकवृत्ति (मलयगिरि) में छेदसूत्रों के लिए पद विभाग, समाचारी शब्द का प्रयोग हुआ है। पद विभाग और छेद— ये दोनों शब्द समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। संभवत: इसी दृष्टि से छेदसूत्र नाम रखा गया हो क्योंकि छेदसूत्रों में एक सूत्र का दूसरे सूत्र से संबंध नहीं है, सभी सूत्र स्वतंत्र हैं। उनकी व्याख्या भी छेद दृष्टि से या विभाग दृष्टि से की जाती है।

उनके मत में तीसरी संभावना यह हो सकती है कि दशाश्रुतस्कन्ध, बृहत्कल्प और व्यवहार नौवें प्रत्याख्यान पूर्व से उद्धृत किये गये हैं, उससे छिन्न अर्थात् पृथक् करने से उन्हें छेदसूत्र की संज्ञा दी गई हो।

छेदसूत्रों की संख्या

पंचकल्प के विलुप्त होने के पश्चात् जीतकल्प छठे छेदसूत्र के रूप में समाविष्ट कर लिया गया। कापड़िया[११] का अभिमत है कि यद्यपि वे पंचकल्प के स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में परिगणित किये जाने की अथवा इसके विलुप्त होने की वास्तविक तिथि बताने की स्थिति में नहीं है, परंतु जैन ग्रन्थावली से ज्ञात होता है कि संवत् १६१२ तक इसकी पाण्डुलिपि उपलब्ध थी।

प्रो. विण्टरनित्ज[१२] के अनुसार छ: छेदसूत्रों के नाम इस प्रकार है— कल्प, व्यवहार, निशीथ, पिण्डनिर्युक्ति, ओघनिर्युक्ति और महानिशीथ। कालिकसूत्र के रूप में उल्लिखित दशा, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानिशीथ इन पाँच छेदसूत्रों की सूचि यह इंगित करती है कि आरंभ में छेदसूत्रों की संख्या पाँच ही थी।

छेदसूत्रों की सामान्य विषयवस्तु

छेदसूत्रों का सामान्य वर्ण्य विषय है— साधक के साधनामय जीवन में उत्पन्न होने वाले दोषों को जानकर उनसे दूर रहना और दोष उत्पन्न होने पर उसका परिमार्जन करना। इस दृष्टि से छेदसूत्रों के विषय को चार विभागों में वर्गीकृत किया गया है— १.उत्सर्ग मार्ग २. अपवाद मार्ग ३. दोष सेवन ४. प्रायश्चित्त विधान।

प्रथम, साधु समाचारी के ऐसे नियम जिन्हें बिना किसी हीनाधिक के

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

या परिवर्तन के, प्रामाणिकता से पालन करना श्रमण के लिए अनिवार्य है उन्हें उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। निर्दोष चारित्र की आराधना इस मार्ग की विशेषता है।

द्वितीय, अपवाद मार्ग से यहां अभिप्राय है विशेष विधि। यह दो प्रकार की होती है– निर्दोष विशेष विधि और सदोष विशेष विधि। आपवादिक विधि सकारण होती है। जिस क्रिया या प्रवृत्ति से आज्ञा का अतिक्रमण न होता हो, वह निर्दोष है। परन्तु प्रबलता के कारण मन न होते हुए भी विवश होकर दोष का सेवन करना पड़े या किया जाये, वह सदोष अपवाद है। प्रायश्चित्त से उसकी शुद्धि हो जाती है।

तृतीय, दोष सेवन का अर्थ है–उत्सर्ग और अपवाद मार्ग का उल्लंघन। चतुर्थ प्रायश्चित्त का अर्थ है–दोष सेवन के शुद्धिकरण के लिए की जाने वाली विधि।

दशाश्रुतस्कन्ध परिचय

कालिक ग्रन्थ

नन्दीसूत्र[१३] में पहले जैन आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य में वर्गीकृत किया गया है। पुन: अंगबाह्य आगम को आवश्यक, आवश्यकव्यतिरिक्त, कालिक और उत्कालिक रूप में वर्गीकृत किया गया है। ३१ कालिक ग्रंथों में उत्तराध्ययन के पश्चात् दशाश्रुतस्कन्ध, कल्प, व्यवहार, निशीथ और महानीशीथ इन छेदसूत्रों का उल्लेख है। कालिक ग्रंथों का स्वाध्याय विकाल को छोड़कर किया जाता था।

रचना प्रकृति

जैन आगमों की रचनायें दो प्रकार से हुई हैं[१४]–१. कृत २. निर्यूहित। जिन आगमों का निर्माण स्वतन्त्र रूप से हुआ है वे आगम कृत कहलाते हैं। जैसे गणधरों द्वारा रचित द्वादशांगी और भिन्न–भिन्न स्थविरों द्वारा निर्मित उपांग साहित्य कृत आगम हैं। निर्यूहित आगम वे हैं जिनके अर्थ के प्ररूपक तीर्थंकर हैं, सूत्र के रचयिता गणधर हैं और संक्षेप में उपलब्ध वर्तमान रूप के रचयिता भी ज्ञात हैं जैसे दशवैकालिक के शय्यंभव तथा कल्प, व्यवहार और दशाश्रुतस्कन्ध के रचयिता भद्रबाहु हैं। दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति[१५] से भी यह तथ्य स्पष्ट होता है। पंचकल्पचूर्णि[१६] से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है– तेण भगवता आयारकप्प–दसाकप्प–ववहारा य नवमपुव्वनीसंदभूता निज्जूढा।

रचनाकाल

सामान्य रूप से आगमों के रचनाकाल की अवधि ई.पू. पाँचवीं से ईसा की पाँचवीं शताब्दी के मध्य अर्थात् लगभग एक हजार वर्ष मानी जाती है। इस अवधि में ही छेदसूत्र भी लिखे गये हैं। परम्परागत रूप से छ: छेदसूत्रों

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

में दशाश्रुत, बृहत्कल्प और व्यवहारसूत्र की रचना भद्रबाहु प्रथम द्वारा मानी जाती है। भद्रबाहु का काल ई. पू. ३५७ के आस–पास निश्चित है। अत: इनके द्वारा रचित दशाश्रुत आदि का समय भी वही होना चाहिए। प्रसिद्ध जर्मन विद्वान् डॉ. जैकोबी[१७] और शुब्रिंग के अनुसार प्राचीन छेदसूत्रों का समय ई. पूर्व चौथी शती का अन्त और तीसरी का प्रारम्भ माना जा सकता है। शुब्रिंग[१८] के शब्दों में–"......the old Cheyasuttas....., Significant are old grammatical forms..., A metrical investigation made by Jacobi, as was said before, resulted in surmising the origin of the most ancient texts of about the end of the 4th and the beginning of the third century B.C."

विच्छेद

तित्थोगाली[१९] प्रकीर्णक में विभिन्न आगमग्रन्थों का विच्छेद काल उल्लिखित है। इसके अनुसार वीर निर्वाण संवत् १५०० ई. (सन् ९७३) में दशाश्रुत का विच्छेद हुआ है। विच्छेद का तात्पर्य सम्पूर्ण ग्रन्थ का लोप मानना उचित नहीं होगा। इस संबंध में प्रो. सागरमल जैन[२०] का कथन अत्यन्त प्रासंगिक है, ''विच्छेद का अर्थ यह नहीं है कि उस ग्रन्थ का सम्पूर्ण लोप हो गया है। मेरी दृष्टि से विच्छेद का तात्पर्य उसके कुछ अंशों का विच्छेद ही मानना होगा। यदि हम निष्पक्ष दृष्टि से विचार करें तो ज्ञात होता है कि श्वेताम्बर परम्परा में भी जो अंग साहित्य आज अवशिष्ट हैं वे उस रूप में तो नहीं हैं जिस रूप में उनकी विषय वस्तु का उल्लेख स्थानांग, समवायांग, नन्दीसूत्र आदि में हुआ है।'' तित्थोगाली के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं दशाश्रुतस्कंध सूत्र के विच्छेद का उल्लेख न होना इस तथ्य का प्रमाण है कि इस छेदसूत्र का विच्छेद नहीं हुआ है।

स्रोत

दशाश्रुतस्कन्ध चूर्णि[२१] के अनुसार दशाश्रुत, व्यवहार और बृहत्कल्पसूत्र–ये नवम प्रत्याख्यानपूर्व से उद्धृत किये गये हैं। इस प्रकार इसका स्रोत नवम पूर्व है।

विषय वस्तु

स्थानांगसूत्र में उल्लिखित दशाश्रुतस्कन्ध की दसों दशाओं के शीर्षक वर्तमान दशाश्रुतस्कन्ध से साम्य रखते हैं। ये दशायें इस प्रकार हैं–१. असमाधि-स्थान, २.शबलदोष ३.आशातना ४.गणिसम्पदा ५.चित्तसमाधि ६.उपासकप्रतिमा ७.भिक्षुप्रतिमा ८.पर्युषणाकल्प ९.मोहनीय स्थान और १०. आयति स्थान।

प्रथम दशा में २० असमाधिस्थान हैं। दूसरी दशा में २१ शबलदोष हैं। तीसरी दशा में ३३ आशातनायें हैं। चौथी दशा में आचार्य की आठ

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सम्पदा और चार कर्त्तव्य कहे गए हैं तथा चार कर्त्तव्य शिष्य के कहे गए हैं। पाँचवी दशा में चित्त की समाधि होने के १० बोल कहे हैं। छठी दशा में श्रावक की ११ प्रतिमाएँ हैं। सातवीं दशा में भिक्षु की १२ प्रतिमाएँ हैं। आठवीं दशा का सही स्वरूप व्यवच्छिन्न हो गया या विकृत हो गया है। इसमें साधुओं की समाचारी का वर्णन था। इस दशा का उद्धृत रूप वर्तमान **कल्पसूत्र** माना जाता है। नौवीं दशा में ३० महामोहनीय कर्मबंध के कारण हैं। दसवीं दशा में ९ निदानों का निषेध एवं वर्णन है तथा उनसे होने वाले अहित का कथन है। दशाक्रम से इस छेदसूत्र. की संक्षिप्त विषय–वस्तु निम्न प्रकार है–

प्रथम दशा

साध्वाचार (संयम) के सामान्य दोषों या अतिचारों को असमाधिस्थान कहा गया है। इनके सेवन से संयम निरतिचार नहीं रहता है। बीस असमाधिस्थान निम्न हैं–

१. शीघ्रता से चलना
२. अन्धकार में चलते समय प्रमार्जन न करना
३. सम्यक् रूप से प्रमार्जन न करना
४. अनावश्यक पाट आदि ग्रहण करना या रखना
५. गुरुजनों के सम्मुख बोलना
६. वृद्धों को असमाधि पहुँचाना
७. पाँच स्थावर कायों की सदा यतना नहीं करना अर्थात् उनकी विराधना करना, करवाना
८. क्रोध से जलना अर्थात् मन में क्रोध रखना
९. क्रोध करना अर्थात् वचन या व्यवहार द्वारा क्रोध को प्रकट करना
१०.पीठ पीछे निन्दा करना
११.कषाय या अविवेक से निश्चयकारी भाषा बोलना
१२.नया कलह करना
१३.उपशान्त कलह को पुनः उभारना
१४.अकाल (चौंतीस प्रकार के अस्वाध्यायों) में सूत्रोच्चारण करना
१५.सचित्त रज या अचित्त रज से युक्त हाथ–पाँव का प्रमार्जन न करना अर्थात् प्रमार्जन किए बिना बैठ जाना या अन्य कार्य में लग जाना
१६.अनावश्यक बोलना, वाक्युद्ध करना एवं उच्च स्वर से आवेश युक्त बोलना
१७.संघ या संगठन में अथवा प्रेम संबंध में भेद उत्पन्न हो ऐसा भाषण करना
१८.कलह करना, तुच्छतापूर्ण व्यवहार करना
२०.अनेषणीय आहार-पानी आदि ग्रहण करना अर्थात् एषणा के छोटे दोषों की उपेक्षा करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

द्वितीय दशा

शबल, प्रबल, ठोस, भारी, विशेष बलवान आदि लगभग एकार्थक शब्द हैं। संयम के शबल दोषों का अर्थ है— सामान्य दोषों की अपेक्षा बड़े दोष या विशेष दोष। ये दोष संयम के अनाचार रूप होते हैं। इनका प्रायश्चित्त भी गुरुतर होता है तथा ये संयम में विशेष असमाधि उत्पन्न करने वाले हैं। शबल दोष संयम में बड़े अपराध हैं और असमाधि संयम में छोटे अपराध हैं। दूसरी दशा में प्रतिपादित इक्कीस शबल दोष निम्नप्रकार हैं—

१. हस्तकर्म २. मैथुन सेवन ३. रात्रि भोजन ४. साधु के निमित्त से बने आधाकर्मी आहार—पानी आदि का ग्रहण ५. राजप्रासाद में गोचरी ६. सामान्य साधु—साध्वियों के निमित्त बने उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया उद्देशक आहार आदि लेना या साधु के लिए क्रयादि क्रिया हो ऐसे आहारादि पदार्थ लेना ७. बार-बार तप—त्याग आदि का भंग करना ८. बार—बार गण का त्याग और स्वीकार ९ एवं १९ घुटने (जानु) पर्यन्त जल में एक मास में तीन बार या वर्ष में १० बार चलना अर्थात् आठ महीने के आठ और एक अधिक कुल ९ बार उतरने पर शबल दोष नहीं है। १०एवं २०. एक मास में तीन बार और वर्ष में १० बार (उपाश्रय के लिए) माया कपट करना। ११. शय्यातर पिण्ड ग्रहण करना १२—१४. जानकर संकल्पपूर्वक हिंसा करना, झूठ बोलना, अदत्तग्रहण करना १५—१७. त्रस स्थावर जीव युक्त अथवा सचित्त स्थान पर या उसके अत्यधिक निकट बैठना, सोना, खड़े रहना। १८. जानकर सचित्त हरी वनस्पति(१. मूल २. कन्द ३. स्कन्ध ४. छाल ५. कोंपल ६. पत्र ७. पुष्प ८. फल ९. बीज और १०. हरी वनस्पति खाना २१..जानकर सचित्त जल के लेप युक्त हाथ या बर्तन से गोचरी लेना।

यद्यपि अतिचार—अनाचार अन्य अनेक हो सकते हैं, फिर भी यहां अपेक्षा से २० असमाधि स्थान और २१ शबल दोष कहे गए हैं। अन्य दोषों को यथायोग्य विवेक से इन्हीं में अन्तर्भावित कर लेना चाहिए।

तृतीय दशा

आशातना की परिभाषा इस प्रकार है— देव गुरु की विनय भक्ति न करना, अविनय-अभक्ति करना, उनकी आज्ञा भंग करना या निन्दा करना, धर्म सिद्धान्तों की अवहेलना करना या विपरीत प्ररूपणा करना और किसी भी प्राणी के प्रति अप्रिय व्यवहार करना, उसकी निन्दा, तिरस्कार करना 'आशातना' है। प्रस्तुत दशा में केवल गुरु-रत्नाधिक (श्रेष्ठ) की आशातना के विषयों का ही कथन किया गया है।

श्रेष्ठ जनों के साथ चलने, बैठने, खड़े रहने, आहार, विहार, निहार संबंधी समाचारी के कर्त्तव्यों में, बोलने, शिष्टाचार, भाव और आज्ञापालन में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अविवेक-अभक्ति से प्रवर्तन करना 'आशातना' है।

चतुर्थदशा

साधु-साध्वियों के समुदाय की समुचित व्यवस्था के लिए आचार्य का होना नितान्त आवश्यक है। प्रस्तुत दशा में आचार्य के आठ मुख्य गुण वर्णित हैं, जैसे–

1. **आचारसम्पन्न**– सम्पूर्ण संयम-संबंधी जिनाज्ञा का पालन करने वाला, क्रोध, मानादि कषायों से रहित, शान्तस्वभाव वाला।

2. **श्रुतसम्पदा**– आगमोक्त क्रम से शास्त्रों को कण्ठस्थ करने वाला एवं उनके अर्थ परमार्थ को धारण करने वाला।

3. **शरीर सम्पदा**– समुचित संहनन संस्थान वाला एवं सशक्त और स्वस्थ शरीर वाला।

4. **वचनसम्पदा**– आदेय, मधुर और राग-द्वेष रहित एवं भाषा संबंधी दोषों से रहित वचन बोलने वाला।

5. **वाचना सम्पदा**– सूत्रों के पाठों का उच्चारण करने–कराने, अर्थ परमार्थ को समझाने तथा शिष्य की क्षमता-योग्यता का निर्णय करके शास्त्र ज्ञान देने में निपुण। योग्य शिष्यों को राग-द्वेष या कषाय रहित होकर अध्ययन कराने वाला।

6. **मतिसम्पदा**– स्मरणशक्ति एवं चारों प्रकार की बुद्धि से युक्त बुद्धिमान।

7. **प्रयोगमतिसम्पदा**– वाद–विवाद (शास्त्रार्थ), प्रश्नों(जिज्ञासाओं) के समाधान करने में परिषद् का विचार कर योग्य विश्लेषण करने एवं सेवा व्यवस्था में समय पर उचित बुद्धि की स्फुरणा, समय पर सही (लाभदायक) निर्णय एवं प्रवर्त्तन की क्षमता।

8. **सङ्ग्रहपरिज्ञासम्पदा**– साधु, साध्वियों की व्यवस्था एवं सेवा के द्वारा तथा श्रावक–श्राविकाओं की विचरण तथा धर्म प्रभावना के द्वारा भक्ति, निष्ठा, ज्ञान और विवेक की वृद्धि करने वाला जिससे कि संयम के अनुकूल विचरण क्षेत्र, आवश्यक उपधि, आहार की प्रचुर उपलब्धि होती रहे एवं सभी निराबाध संयम-आराधना करते रहें।

शिष्यों के प्रति आचार्य के कर्त्तव्य

१. संयम संबंधी और त्याग-तप संबंधी समाचारी का ज्ञान कराना एवं उसके पालन में अभ्यस्त करना। समूह में या अकेले रहने एवं आत्म-समाधि की विधियों का ज्ञान एवं अभ्यास कराना।

२. आगमों का क्रम से अध्ययन करवाना, अर्थज्ञान करवाकर उससे किस तरह हिताहित होता है, यह समझाना एवं उससे पूर्ण आत्मकल्याण साधने का बोध देते हुए परिपूर्ण वाचना देना।

३. शिष्यों की श्रद्धा को पूर्ण रूप में दृढ़ बनाना और ज्ञान एवं अन्य गुणों में

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

अपने समान बनाने का प्रयत्न करना।

४. शिष्यों में उत्पन्न दोष, कषाय, कलह, आकांक्षाओं का उचित उपायों द्वारा शमन करना। ऐसा करते हुए भी अपने संयमगुणों एवं आत्मसमाधि की पूर्णरूपेण सुरक्षा एवं वृद्धि करना।

गण एवं आचार्य के प्रति शिष्यों का कर्त्तव्य

१. आवश्यक उपकरणों की प्राप्ति, सुरक्षा एवं विभाजन में कुशल होना।

२. आचार्य व गुरुजनों के अनुकूल सदा प्रवर्तन करना।

३. गण के यश की वृद्धि, अपयश का निवारण एवं रत्नाधिक को यथोचित आदरभाव देना और सेवा करने में सिद्धहस्त होना।

४. शिष्य-वृद्धि, उनके संरक्षण, शिक्षण में सहयोगी होना। रोगी साधुओं की यथोचित सेवा-सुश्रूषा करना एवं मध्यस्थ भाव से साधुओं में सौमनस्य बनाए रखने में निपुण होना।

पंचमदशा

सांसारिक आत्मा को धन—वैभव आदि भौतिक सामग्री प्राप्त होने पर जिस प्रकार आनन्द का अनुभव होता है, उसी प्रकार आत्मगुणों की निम्नलिखित अनुपम उपलब्धियों से आत्मार्थी मुमुक्षुओं को अनुपम आनन्दरूप चित्तसमाधि की प्राप्ति होती है—

१. अनुपम धर्मभावों की प्राप्ति या वृद्धि २. जातिस्मरणज्ञान ३. अत्यन्त शुभ स्वप्न दर्शन ४. देव दर्शन ५. अवधिज्ञान ६. अवधि दर्शन ७. मन:पर्यवज्ञान ८. केवलदर्शन ९. केवलज्ञान उत्पत्ति और १०. कर्मों से मुक्ति।

षष्ठ दशा

श्रावक का प्रथम मनोरथ आरम्भ परिग्रह की निवृत्तिमय साधना है। निवृत्ति साधना के समय वह विशिष्ट साधना के लिए श्रावक प्रतिमाओं अर्थात् विशिष्ट प्रतिज्ञाओं को धारण करता है। अनिवृत्ति साधना के समय भी श्रावक समकित की प्रतिज्ञा सहित सामायिक, पौषध आदि बारह व्रतों का आराधन करता है, किन्तु उस समय वह अनेक परिस्थितियों एवं जिम्मेदारियों के कारण अनेक श्रावकों के साथ उन व्रतों को धारण करता है। निवृत्ति की अवस्था में आगारों से रहित उपासक प्रतिमाओं का पालन दृढ़ता के साथ कर सकता है।

प्रतिमाएँ

१. आगाररहित निरतिचार सम्यक्त्व की प्रतिमा का पालन। इसमें पूर्व में धारण किए अनेक नियम एवं बारह व्रतों का पालन किया जाता है, उन नियमों का त्याग नहीं किया जाता।

२. अनेक छोटे-बड़े नियम-प्रत्याख्यान अतिचाररहित पालन करने की प्रतिज्ञा और यथावत् पालन करना।

३. प्रातः, मध्याह्न, सांय नियत समय पर ही निरतिचार शुद्ध सामायिक करना

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

एवं १४ नियम भी नियमित पूर्ण शुद्ध रूप से आगार रहित धारण करके यथावत् पालन करना।

४. उपवास युक्त छः पौषध (दो अष्टमी, दो चतुर्दशी, अमावस्या एवं पूर्णिमा के दिन) आगार रहित निरतिचार पालन करना।

५. पौषध के दिन पूर्ण रात्रि या नियत समय तक कायोत्सर्ग करना।

६. प्रतिपूर्ण ब्रह्मचर्य का आगार रहित पालन करना। साथ ही ये नियम रखना— १. स्नान त्याग २. रात्रिभोजन त्याग और ३. धोती की एक लांग खुली रखना।

७. आगार रहित सचित्त वस्तु खाने का त्याग।

८. आगार रहित स्वयं हिंसा करने का त्याग।

९. दूसरों से सावद्य कार्य कराने का त्याग अर्थात् धर्मकार्य की प्रेरणा के अतिरिक्त किसी कार्य की प्रेरणा या आदेश नहीं करना।

१०.सावद्य कार्य के अनुमोदन का भी त्याग अर्थात् अपने लिए बनाए गए आहारादि किसी भी पदार्थ को न लेना।

११. श्रमण के समान वेश व चर्या धारण करना।

लोच करना, विहार करना, सामुदायिक गोचरी करना या आजीवन संयमचर्या धारण करना इत्यादि का इसमें प्रतिबंध नहीं है। अतः वह भिक्षा आदि के समय स्वयं को प्रतिमाधारी श्रावक ही कहता है और ज्ञातजनों के घरों में गोचरी हेतु जाता है। आगे-आगे की प्रतिमाओं में पहले-पहले की प्रतिमाओं का पालन करना आवश्यक होता है।

सप्तमदशा

भिक्षु का दूसरा मनोरथ है ''मैं एकलविहारप्रतिमा धारण कर विचरण करूँ'' भिक्षुप्रतिमा भी आठ मास की एकलविहारप्रतिमा युक्त होती है। विशिष्ट साधना के लिए एवं कर्मों की अत्यधिक निर्जरा के लिए आवश्यक योग्यता से सम्पन्न गीतार्थ (बहुश्रुत) भिक्षु इन बारह प्रतिमाओं को धारण करता है।

प्रतिमाधारी के विशिष्ट नियम

१. दाता का एक पैर देहली के अन्दर और एक पैर बाहर हो। स्त्री गर्भवती आदि न हो, एक व्यक्ति का ही भोजन हो, उसमें से ही विवेक के साथ लेना।

२. दिन के तीन भाग कल्पित कर किसी एक भाग में गोचरी लाना और आहार ग्रहण करना।

३. छः प्रकार की भ्रमण विधि के अभिग्रह से गोचरी लेने जाना।

४. अज्ञात क्षेत्र में दो दिन और ज्ञात—परिचित क्षेत्रों में एक दिन से अधिक नहीं ठहरना।

५. चार कारणों के अतिरिक्त मौन ही रहना, धर्मोपदेश भी नहीं देना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

६-७. तीन प्रकार की शय्या और तीन प्रकार के संस्तारक का ही उपयोग करना।

८-९. साधु के ठहरने के बाद उस स्थान पर कोई स्त्री—पुरुष आयें, ठहरें या अग्नि लग जाये तो भी बाहर नहीं निकलना।

१०-११. पैर से कांटा या आंख से रज आदि नहीं निकालना।

१२. सूर्यास्त के बाद एक कदम भी नहीं चलना। रात्रि में मल-मूत्र की बाधा होने पर जाने का विधान है।

१३. हाथ-पैर में सचित्त रज लग जाए तो प्रमार्जन नहीं करना और स्वत: अचित्त न हो जाए तब तक गोचरी आदि भी नहीं जाना।

१४. अचित्त जल से भी सुख शांति के लिए हाथ पैर प्रक्षालन-निषेध।

१५. उन्मत्त पशु भी चलते समय सामने आ जाए तो मार्ग नहीं छोड़ना।

१६. धूप से छाया में और छाया से धूप में नहीं जाना।

प्रथम सात प्रतिमाएँ एक—एक महीनें की हैं। उनमे दत्ति की संख्या १ से ७ तक बढ़ती है। आठवीं, नवीं, दसवीं प्रतिमाएँ सात—सात दिन की एकान्तर तप युक्त की जाती हैं। सूत्रोक्त तीन—तीन आसन में से रात्रि भर कोई भी एक आसन किया जाता है।

ग्यारहवीं प्रतिमा में छट्ठ के तप के साथ एक अहोरात्र का कायोत्सर्ग किया जाता है।

बारहवीं भिक्षुप्रतिमा में अट्ठम तप के साथ श्मशान आदि में एक रात्रि का कायोत्सर्ग किया जाता है।

अष्टम दशा

इस दशा का नाम पर्युषणाकल्प है। इसमें भिक्षुओं के चातुर्मास एवं पर्युषणा संबंधी समाचारी के विषयों का कथन है। वर्तमान **कल्पसूत्र** आठवीं दशा से उद्धृत माना जाता है।

नवमदशा

आठ कर्मों में मोहनीय कर्म प्रबल है, महामोहनीय कर्म उससे भी तीव्र होता है। उसके बंध संबंधी ३० कारण यहां वर्णित हैं—

१-३. त्रस जीवों को जल में डुबाकर, श्वास रूंधकर, धुआँ कर मारना।

४-५. शस्त्र प्रहार से सिर फोड़कर, सिर पर गीला कपड़ा बांधकर मारना।

६. धोखा देकर भाला आदि मारकर हँसना।

७. मायाचार कर उसे छिपाना, शास्त्रार्थ छिपाना।

८. मिथ्या आक्षेप लगाना।

९. भरी सभा में मिश्र भाषा का प्रयोग कर कलह करना।

१०-१२. ब्रह्मचारी या बालब्रह्मचारी न होते हुए भी स्वयं को वैसा प्रसिद्ध करना।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१३-१४.उपकारी पर अपकार करना।

१५. रक्षक होकर भक्षक का कार्य करना।

१६-१७.अनेक के रक्षक, नेता या स्वामी आदि को मारना।

१८. दीक्षार्थी या दीक्षित को संयम से च्युत करना।

१९. तीर्थंकरों की निन्दा करना।

२०. मोक्षमार्ग की द्वेषपूर्वक निन्दा कर भव्य जीवों का मार्ग भ्रष्ट करना।

२१-२२. उपकारी आचार्य, उपाध्याय की अवहेलना करना, उनका आदर, सेवा एवं भक्ति न करना।

२३-२४. बहुश्रुत या तपस्वी न होते हुए भी स्वयं को बहुश्रुत या तपस्वी कहना।

२५. कलुषित भावों के कारण समर्थ होते हुए भी सेवा नहीं करना।

२६. संघ में भेद उत्पन्न करना।

२७. जादू-टोना आदि करना।

२८. कामभोगों में अत्यधिक आसक्ति एवं अभिलाषा रखना।

२९. देवों की शक्ति का अपलाप करना, उनकी निन्दा करना।

३०. देवी—देवता के नाम से झूठा ढोंग करना।

अध्यवसाओं की तीव्रता या क्रूरता के होने से इन प्रवृत्तियों द्वारा महामोहनीय कर्म का बंध होता है।

दशमदशा

संयम-तप की साधना रूप सम्पत्ति को भौतिक लालसाओं की उत्कटता के कारण आगामी भव में ऐच्छिक सुख या अवस्था प्राप्त करने के लिए दांव पर लगा देना 'निदान' कहा जाता है। ऐसा करने से यदि संयम-तप की पूंजी अधिक हो तो निदान करना फलीभूत हो जाता है किन्तु उसका परिणाम हानिकर होता है। दूसरे शब्दों में रागद्वेषात्मक निदानों के कारण निदान फल के साथ मिथ्यात्व, नरकादि दुर्गति की प्राप्ति होती है और धर्मभाव के निदानों से मोक्षप्राप्ति में बाधा होती है। अत: निदान कर्म त्याज्य है। वस्तुत: दशम अध्ययन का नाम आयति स्थान है। इसमें विभिन्न निदानों का वर्णन है। निदान का अर्थ है— मोह के प्रभाव से कामादि इच्छाओं की उत्पत्ति के कारण होने वाला इच्छापूर्तिमूलक संकल्प। यह संकल्प विशेष ही निदान है।

आयति का अर्थ जन्म या जाति है। निदान, जन्म का कारण होने से आयति स्थान माना गया है। आयति अर्थात् आय+ति, आय का अर्थ लाभ है। अत: जिस निदान से जन्म-मरण का लाभ होता है उसका नाम आयति है। दशाश्रुत में वर्णित निदान इस प्रकार हैं—

१. निर्ग्रन्थ द्वारा पुरुष भोगों का निदान।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

२. निर्ग्रन्थी द्वारा स्त्री भोगों का निदान।

३. निर्ग्रन्थ द्वारा स्त्री भोगों का निदान।

४. निर्ग्रन्थी द्वारा पुरुष भोगों का निदान।

५-७. संकल्पानुसार दैविक सुख का निदान।

८. श्रावक अवस्था प्राप्ति का निदान।

९. श्रमण जीवन प्राप्ति का निदान।

इन निदानों का दुष्फल जानकर निदान रहित संयम-तप की आराधना करनी चाहिए।

विषय वस्तु का महत्त्व

दशाश्रुतस्कन्ध की विषयवस्तु पर विचार करते हुए आचार्य देवेन्द्र मुनि[२२] ने कहा है कि असमाधि स्थान, चित्तसमाधि स्थान, मोहनीय स्थान और आयतिस्थान में जिन तत्त्वों का संकलन किया गया है, वे वस्तुतः योगविद्या से संबद्ध हैं। योग की दृष्टि से चित्त को एकाग्र तथा समाहित करने के लिए ये अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। उपासक प्रतिमा और भिक्षु प्रतिमा, श्रावक व श्रमण की कठोरतम साधना के उच्चतम नियमों का परिज्ञान कराते हैं। शबलदोष और आशातना इन दो दशाओं में साधु जीवन के दैनिक नियमों का विवेचन किया गया है और कहा गया है कि इन नियमों का परिपालन होना ही चाहिए। चतुर्थ दशा गणि सम्पदा में आचार्य पद पर विराजित व्यक्ति के व्यक्तितत्व के प्रभाव तथा शारीरिक प्रभाव का अत्यन्त उपयोगी वर्णन किया गया है।

आचार्य[२३] ने दशाश्रुतस्कन्ध के प्रतिपाद्य पर ज्ञेयाचार, उपादेयाचार और हेयाचार की दृष्टि से भी विचार किया है— असमाधिस्थान, शबल दोष, आशातना, मोहनीय स्थान और आयतिस्थान में साधक के हेयाचार का प्रतिपादन है। गणि सम्पदा में अगीतार्थ अनगार के ज्ञेयाचार का और गीतार्थ अनगार के लिए उपादेयाचार का कथन है। चित्तसमाधि स्थान में उपादेयाचार का कथन है। उपासक प्रतिमा में अनगार के लिए ज्ञेयाचार और सागार श्रमणोपासक के लिए उपादेयाचार का कथन है।

भिक्षु प्रतिमा में अनगार के लिए उपादेयाचार और सागार के लिए ज्ञेयाचार का कथन है। अष्टम दशा पर्युषणाकल्प में अनगार के लिए ज्ञेयाचार, कुछ हेयाचार अनागार और सागार दोनों के लिए उपयोगी है।

दशाओं का पौर्वापर्य एवं परस्पर सामंजस्य

दशाश्रुतस्कन्ध में प्रतिपादित अध्ययनों के पौर्वापर्य का औचित्य सिद्ध करने से पूर्व इस तथ्य पर विचार करना आवश्यक है कि आचार्य ने समाधिस्थान का वर्णन न कर सर्वप्रथम असमाधि स्थानों का ही वर्णन क्यों किया? इसके उत्तर में आचार्य आत्मारामजी[२४] के शब्दों मे कहा जा सकता

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

है कि असमाधि यहाँ नञ् तत्पुरुष समासान्त पद है। यदि नञ् समास न किया जाये तो यही बीस समाधि स्थान बन जाते हैं अर्थात् अकार को हटा देने से यही बीस भाव समाधि के स्थान हैं। इस प्रकार इसी अध्ययन से जिज्ञासु समाधि और असमाधि दोनों के स्वरूप को भलीभांति जान सकते हैं।

अध्ययनों के पौर्वापर्य और परस्पर सामंजस्य की दृष्टि से विचार करने पर ज्ञात होता है कि असमाधिस्थानों के आसेवन से शबलदोष की प्राप्ति होती है। अत: पहली दशा से संबंध रखते हुए सूत्रकार दूसरी दशा में शबलदोष का वर्णन करते हैं।[२५]

जिस प्रकार दुष्कर्मों से चारित्र शबलदोष युक्त होता है, ठीक उसी तरह रत्नत्रय के आराधक आचार्य या गुरु की आशातना करने से भी चारित्र शबल दोषयुक्त होता है। अत: पहली और दूसरी दशा से संबंध रखते हुए तीसरी दशा में तैंतीस आशातनाओं का वर्णन है। आशातनाओं का परिहार करने से समाधि मार्ग निष्कण्टक हो जाता है।

प्रारम्भिक तीनों दशाओं में असमाधि स्थानों, शबलदोषों और आशातनाओं का प्रतिपादन किया गया है। उनका परित्याग करने से श्रमण गणि पद के योग्य हो जाता है। अत: उक्त तीनों दशाओं के क्रम में चतुर्थ दशा में गणिसम्पदा का वर्णन है। गणि सम्पदा से परिपूर्ण गणि समाधिसम्पन्न हो जाता है, किन्तु जब तक उसको चित्त समाधि का भलीभांति ज्ञान नहीं होता, तब तक वह उचित रीति से समाधि में प्रविष्ट नहीं हो सकता, अत: पूर्वोक्त दशाओं के अनुक्रम में ही पाँचवीं दशा में 'चित्तसमाधि' का वर्णन है।

संसारी जीवों के लिए समाधि प्राप्त करना आवश्यक है। सभी मनुष्य साधुवृत्ति ग्रहण नहीं कर सकते, अत: श्रावकवृत्ति से भी समाधि प्राप्त करना अपेक्षित है। इसी लक्ष्य को ध्यान में रखते हुए श्रावकों की ग्यारह प्रतिमाओं—उपासक प्रतिमाओं का छठी दशा में प्रतिपादन है। यही अणुव्रती सर्वविरति रूप चारित्र की ओर प्रवृत्त होना चाहे तो उसे श्रमण व्रत धारण करना पड़ता है। अत: सातवीं दशा में भिक्षु प्रतिमा का वर्णन है।

प्रतिमा समाप्त करने के अनन्तर मुनि को वर्षा ऋतु में निवास के योग्य क्षेत्र की गवेषणा कर अर्थात् उचित स्थान प्राप्त कर वर्षा ऋतु वहीं व्यतीत करनी पड़ती है। इस आठवीं दशा में वर्षावास के नियमों का प्रतिपादन है।

प्रत्येक श्रमण को पर्युषणा का आराधन उचित रीति से करना चाहिए, जो ऐसा नहीं करता वह मोहनीय कर्मों का उपार्जन करता है। अत: नवीं दशा में जिन–जिन कारणों से मोहनीय कर्मबन्ध होता है उनका वर्णन किया गया है। श्रमण को उन कारणों का स्वरूप जानकर उनसे सदा पृथक् रहने का प्रयत्न करना चाहिए। यह सबसे प्रधान कर्म है। अत: प्रत्येक को इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिए। इसके परिहार हेतु मोहदशा की रचना की गई है।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नवम दशा में महामोहनीय स्थानों का वर्णन किया गया है। कभी–कभी साधु उनके वशवर्ती होकर तप करते हुए निदान कर बैठता है। मोह के प्रभाव से कामभोगों की इच्छा उसके चित्त में जाग उठती है और उस इच्छा की पूर्ति की आशा से वह निदान कर्म कर लेता है। परिणामतः उसकी वह इच्छा "आयति" अर्थात् आगामी काल तक बनी रहती है, जिससे वह फिर जन्म–मरण के बंधन में फँसा रहता है। अतः इस दशा में निदान कर्म का ही वर्णन करते हैं। यही नवम दशा से इसका संबंध है। दशवीं दशा का नाम आयति दशा है। आयति शब्द का अर्थ जन्म या जाति जानना चाहिए। जो व्यक्ति निदान के कर्म से बंधेगा उसको फल भोगने के लिए अवश्य ही नया जन्म ग्रहण करना पड़ेगा।

व्याख्या साहित्य

दशाश्रुतस्कन्ध पर व्याख्या साहित्य के रूप में भद्रबाहु कृत निर्युक्ति, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, ब्रह्मर्षि या ब्रह्ममुनि कृत जिनहितावृत्ति, एक अज्ञातकर्तृक टीका, पृथ्वीचन्द्र कृत टिप्पणक एवं एक अज्ञातकर्तृक पर्याय उपलब्ध है। इसमें से निर्युक्ति और चूर्णि का प्रकाशन हुआ है। परन्तु शेष व्याख्या साहित्य के प्रकाशित होने की सूचना उपलब्ध नहीं है। विभिन्न स्रोतों के आधार पर इनका ग्रन्थ परिमाण निर्युक्ति १४१ गाथा, चूर्णि २२२५ या २१६१ श्लोक परिमाण ब्रह्ममुनि कृत टीका ५१५२ श्लोक परिमाण है। दशाश्रुतस्कन्ध के प्रकाशित संस्करणों का उल्लेख किया गया है।

आठवीं दशा पर्युषणाकल्प अथवा कल्पसूत्र

जैसा कि सुविख्यात है कि दशाश्रुतस्कन्ध की आठवीं दशा को ही उद्धृत कर प्रारम्भ में जिनचरित और अन्त में स्थविरावली जोड़कर कल्पसूत्र नाम प्रदान किया गया है। पर्युषण पर्व के अवसर पर इसका पाठ करने से इसकी महत्ता एवं प्रचार दोनों में आशातीत वृद्धि हुई है। फलतः कल्पसूत्र पर व्याख्या साहित्य भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होता है। इस पर लगभग ६० व्याख्याओं के लिखे जाने की सूचना उपलब्ध होती है। निर्युक्ति, चूर्णि और टिप्पणक, जो प्राचीन हैं और सम्पूर्ण छेदसूत्र की व्याख्या करते हैं, के अतिरिक्त चौदहवीं और अठारहवीं शताब्दी के मध्य ज्यादातर व्याख्या ग्रन्थों की रचना हुई है। इनकी सूची एच.डी. वेलणकर द्वारा संकलित जिनरत्नकोश (पृ. ७५–७९ पर) में दी गई है, जो निम्न हैं–

दुर्गपदनिरुक्त (१२६८) विनयचन्द्र, **सन्देहविषौषधि** (१३०७) जिनप्रभ,खरतरगच्छीय, **पजिंका**–जिनसूरि, **अवचूरि**(१३८६)–जिनसागरसूरि, **सुखावबोधविवरण**–जयसागरसूरि, **किरणावली** (१५७१)–धर्मसागरगणि, **अवचूरि** (१९८७)–अमरकीर्ति, **कल्पलता** (१६१४)–शुभविजय, **प्रदीपिका** (१६५७)–संघविजयगणि, **दीपिका** (१६२०)–जयविजयगणि, **मंजरी** (१६१८) सहजकीर्तिगणि एवं श्रीसार,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

दीपिका शिशुबोधिनी (१६४१)—अजितदेव सूरि, **कल्पलता** (१६४२)—समयसुन्दर, खरतरगच्छीय, **सुबोधिका**(१६३९)—विनयविजय, **कौमुदी** (१६५०)—शान्तिसागर, तपागच्छीय, **बालावबोध** (१६९३)—दानविजयगणि, तपागच्छ, **कल्पबोधिनी** (१७३१)—न्यायसागर, तपागच्छ, **कल्पद्रुमकलिका** (लगभग १८३५)—लक्ष्मीवल्लभगणि, खरतरगच्छ, **सूत्रार्थप्रबोधिनी** (१८९७)—विजयराजेन्द्रसूरि, त्रिस्तुतिगच्छ, **कल्पलता**—गुणविजयगणि, तपागच्छ, **दीपिका**— बुद्धविजय, **अवचूरि**—उदयसागर, अंचलगच्छ, **अवचूरि**—महीमेरु, **कल्पोद्योत**—न्यायविजय, **अन्तर्वाचना**(१४००)—गुणरत्नसूरि, **अन्तर्वाचना**—कुलमण्डन सूरि, **अन्तर्वाचना**—रत्नशेखर, **अन्तर्वाचना**—जिनहंस, **अन्तर्वाच्य**—भक्तिलाभ, **अन्तर्वाच्य**—जयसुन्दरसूरि, **अन्तर्वाच्य**—सोमसुन्दरसूरि, **स्तबक**—पार्श्वचन्द्रसूरि, **स्तबक**—रामचन्द्रसूरि, मडाहडगच्छ, **स्तबक**(१५८२)—सोमविमलसूरि, तपागच्छ, **बालावबोध**— क्षमाविजय,**बालावबोध**(१६५०)—मेरुविजय,**स्तबक**(१९७२)—विद्याविलासगणि, खरतरगच्छ, **बालावबोध** (१६७६)—सुखसागर और **मांगलिकमाला** (१७०६)।

संदर्भ:

१. वी.एस.आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स लिमिटेड, दिल्ली १९९३, पृ. ३९२
२. प्रवचनसार, ३/१६, आचार्य कुन्दकुन्द, परमश्रुतप्रभावकमण्डल, बम्बई १९१२।
३. सर्वार्थसिद्धि, ७/२५, पूज्यपाद, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९५५।
४. तत्त्वार्थभाष्यवृत्ति, ९/२२, सिद्धसेनगणि, दे.ला.पु., फण्ड, बम्बई १९२९।
५. छेयसुयमुत्तमसुयं, निशीथभाष्यचूर्णि, भाग ४, ६/४८, सम्पा. अमरमुनि, ग्र.मा. ६, भारतीय विद्या प्रकाशन, दिल्ली एवं सन्मति ज्ञानपीठ, वीरायतन, राजगृह।
६. छेयसुयं कम्हा उत्तमसुतं? भण्णामि—जम्हा एत्थं सपायच्छित्तो विधी भण्णति, जम्हा एतेणच्चरणविशुद्धं करेति, तम्हा तं उत्तमसुतं। नि.भा.चू. भाष्यगाथा, ६/८४ की चूर्णि।
७. प्रो. एच.आर. कापड़िया, द कैनानिकल लिटरेचर ऑव द जैनाज, लेखक, सूरत, १९४१, पृ. ३६, पादटिप्पण सं. ३।
८. वही, पृ. ३६।
९. वही, पृ. ३६।
१०.आचार्य देवेन्द्र मुनि, जैन आगम साहित्य, तारक गुरु जैन ग्र.मा. सं. ७१, तारकगुरु जैन ग्रन्थालय, उदयपुर १९७७ पु. २३—२४।
११. कापड़िया, कैनानिकल, सूरत १९४१, पृ. ३७।
१२. वही, पृ. ३९।
१३. प्रो. जैन, "अर्धमागधी आगम" जैन आयाम—५, पार्श्वनाथ, १९९४, पृ.९।
१४. देवेन्द्रमुनि, "छेदसूत्र", त्रीणिछेदसूत्राणि, ब्यावर १९८२, पृ. ४१।
१५. वही, पृ. ४२।
१६. पंचकल्पचूर्णि, पत्र १ (लिखित), द्रष्टव्य—वही, पृ. ४२।
१७. पं. मालवणिया, जैन साहित्य का बृहद् इतिहास—एक, पार्श्वनाथ, १९८१, पृ. ४१।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

१८. डब्ल्यू., शुब्रिंग, द डाक्ट्रिन ऑव द जैनाज, अंग्रेजी अनु. वुल्गैंग ब्यूर्लेन; मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६२, पृ. ८१।

१९. भणिदो दसाण छेदो पन्नरससएहिं होइ वरिसाणं।
समणम्मि फग्गुमित्ते गोयमगोत्ते महासत्ते।।८१७।।
तित्थोगाली पइन्नयं—'पइण्णयसुत्ताइं'—(२), सं. मुनिपुण्यविजय, जैन आगम ग्रन्थमाला १७, महावीर जैन विद्यालय, बम्बई १९८४, पृ. ४८३।

२०. प्रो. जैन, "अर्धमागधी आगम", जैन आयाम, पार्श्वनाथ १९९४, पृ. ३३।

२१. कतरं सुत्तं? दसाउकप्पो ववहारो या कतरातो उद्धृतं? उच्यते पच्चक्खाण पुव्वाओ।—द. चू., जिनदासगणि, 'मणिविजय गणि ग्रन्थमाला, सं. १४, भावनगर १९५४, पृ. २।

२२. देवेन्द्रमुनि, "छेदसूत्र" त्रीणिछेदसूत्राणि, ब्यावर १९८२, पृ. १२—१३।

२३. वही, पृ. १३

२४. दशाश्रुतस्कन्धसूत्र, अनु. आत्माराम, जैन शास्त्रमाला सं.१, जैन शास्त्रमाला कार्यालय, लाहौर, १९३६, पृ.१०।

२५. वही, पृ. ३३—३४, ६४—६५, ९८—९९, १३९—१४०, १७२, २५५, ३१३, ३१८ एवं ३६३।

—पार्श्वनाथ विद्यापीठ, आई.टी.आई. रोड़
करौंदी, वाराणसी (उ.प्र.)

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org